International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197
Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 5; September 2017; Page No. 1063-1065

असग़र वजाहत के उपन्यासों में आदिवासी विमर्श

मुहम्मद. शाहीद
चेलपुर, मण्डल हुजुराबाद, करीमनगर, तेलंगाना, भारत।

प्रस्तावना

एक रचनात्मक प्रतिभा के रूप में असग़र वजाहत को मिली लोकप्रियता प्रदत्त नहीं, अर्जित लोकप्रियता है जो एक लंबी अवधि तक किये गए अथक श्रम की देन है। जिन जिन विधाओं में उन्होंने रचनात्मक हस्तक्षेप किया, उनमें अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया! कुछ अलग, कुछ नया, कुछ प्रयोगशील और साहसी हुए बिना वे प्रस्थान ही नहीं करते। इसीलिए उनका हर प्रस्थान यादगार बन जाता है। उनकी रचनाएँ स्मृति में अटक जाती है। स्थाई रूप से परेशान करती है। उनकी रचनाएँ स्मृति में अटक जाती है। स्थाई रूप से परेशान करती है। उनकी रचनाएँ जीवन की समस्याओं, दुखों एवं परेशानियों से उपजी है। इसलिए सुख, सुगंध एवं आनंद के सूत्र उनमें नहीं हैं। सूल खोजे जा सकते हैं तो एक आजाद देश के समाज और जीवन के विसंगतिपूर्ण छवियों के। एक लेखकीय दायित्व शायद इसी तरह पूरा होता है और लेखन इसी तरह अर्थ प्राप्त करता है।

एक उपन्यासकार के रूप में उनके लगभग छः उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और खास बात यह रही कि ये सभी उपन्यास काफी चर्चित रहे। वस्तुतः बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में ही आदिवासी जीवन उपन्यास लेखन और विमर्श का विषय बना है। समृद्ध और संपन्न समाज मन में ऐसी घनी झाड़ियाँ है जिन्हें चिरकर आदिम समाज की गुफाओं तक सामाजिक विकास के सूर्य की कोई किरण कभी पहुँची नहीं घास–पाँत, बेंत और लकड़ी की बनी झोपड़ियों को जो अपना निवास समझता हैं और करोड़ों राशि का प्रावधान उनके उन्नयन के लिए शासन की ओर से घोषित होता है किंतु यह शोध का विषय बनता है कि उनमें से सौ रुपये भी उन तक पहुँचे कि नहीं। समस्याओं, अंधश्रद्धाओं, अज्ञानों और भावों से ग्रस्त जीवन का नाम आदिवासी है। सन् 1949 में रांगेय राघव के 'कब तक पुकारू' में पहली बार आदिम जन–जातियों का मौन मुखरिक हुआ। आजादी को साठ वर्ष बाद भी असभ्य, अपराधी, घुमंतू और अभाव ग्रस्त जीवन जीने के लिए अभिशप्त आदिवासी समाज को औपन्यासिक विमर्श का विषय बनना अपने आप में महत्वपूर्ण घटना माननी होगी। यह सच है कि पहाड़ी प्रदेशों तथा घने जंगलों को काटकर जो सिमेंट, कांक्रीट के शानदार बंगले, बड़े–बड़े फ्लैट और तारांकित का होटलों का निर्माण होने लगा लेकिन यह प्रकृति प्रदत्त आदिवासी जीवन की कुर्बानी देकर। आदिवासी जनजातियों को उपन्यास के विमर्श का विषय बनाने के मूल में ये सारी चेतनाएँ आधारभूत हैं और चिंताएँ भी।

असग़र वजाहत के उपन्यास 'बरखा रचाई' में आदिवासियों के विकास को लेकर सरकार ने जो उनके साथ मजाक किया है। उन्हें और अधिक मजबूर बनाया है। इस पर उपन्यासकार ने काफी टिप्पणी की है। वे आदिवासी जिन्होंने बड़े–बड़े सम्राटों से युद्ध करते हुए इन सम्राटों को कभी धूल चटायी थी, आज दया के पात्र बन गए हैं – ''आदिवासियों की दुनियाँ अलग है। इतना सहयोग है उस दुनियाँ में कि आप उसकी कल्पना नहीं कर सकते। उनके ऊपर हमने अपनी दुनिया लाद दी है। छल, कपट, लालच और हिंसा की दुनिया के नीचे ये पिस गए हैं। अब न तो जंगल हैं जो इनके पेट भरते थे, न नदियों में पानी है जहाँ से इनकी सौ जरूरतें पूरी होती थी। विकास के नाम पर इन्हें हमने लालची और झूठा–मक्कार बना दिया है। भाई ये तो हर तरफ से मारे गए हैं.... अब शहर में जाकर मजदूरी के अलावा क्या चारा है? एक जमाने के गर्वीले आदिवासी जिन्होंने बड़े–बड़े सम्राटों के साथ युद्ध किए थे आज निरीह, कमजोर और दया के पात्र बन गए हैं। हमारे लोकतंत्र ने इन्हें यहीं दिया है।''[1]

किस तरह से भोले–भाले आदिवासियों को बहला–फुसलाकर असरदार लोगों ने उनकी जमीन को कौड़ियों के भाव से अपने नाम कर लिया। यह तमाम बाते सर्वेक्षणों से सामने आती रही है। उपन्यास में एक जगह रांची में जमीन के खरीद–फरोक्त में घोटाले का जिक्र हुआ है। सागर साहब लेखक को एक मोटा पोथा देते हैं जो 'रीजनल रूरल डेवलपमेंट इंस्टीट्यूट' में 'लैंड रेवन्यू' का रिकार्ड है। सागर साहब बताते हैं कि ''ये जो रांची शहर देख रहे हैं यह आदिवासियों की जमीन पर बसा है। आज यह करोड़ों रुपये की जमीन है ...लेकिन यह किस तरह, कितना पैसा देकर खरीदी गयी है, ये रिकार्ड बताएगा....कहीं–कहीं...जमीन खरीदने वालों के नाम नहीं दिये गये हैं...क्योंकि वे लोग इतने असरदार...इतने बड़े... इतने सम्मानित हैं कि चोरों की सूची में उनका नाम दर्ज करने की हिम्मत किसी को नहीं है। ये देखिए ..पाँच एकड़ जमीन....सौ रुपये में बिकी...ये देखिए दो एकड़ जमीन.... दस रुपये में...ये कहानियाँ नहीं है ...लैंड रिकार्ड है....अगर चाहें तो मूल बैनामें भी देख सकते हैं।''[2]

उपरोक्त बातें भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की पोल खोलती हैं। देश ने विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी ही जमीन से बेदखल कर उन्हें उनके हालात पर छोड़ दिया यह किसी भी सभ्य समाज के लिए एक कलंक है। इन जमीनों पर उनके सपने ऊगते थे, उनका परिवार पलता था। आज ये आदिवासी बंधुवा मजदूर बन गए हैं। लेखक चुकी एक पत्रकार है और उसे 'रूरल इंस्टीट्यूट' की टीम के साथ रिपोर्टिंग के लिए पूर्णिया भेजा गया है जो आदिवासियों पर केंद्रित है। लेखक अपनी रिपोर्टिंग करते समय आदिवासियों की जहालत भरी जिंदगी देखकर हहाकार कर उठता है। यहाँ रिपोर्टिंग में उनसे कुछ सवाल पूछे जाते हैं। मसलन पूरा परिवार बंधुआ है? कितने समय या कितनी पीढ़ियों से बंधुवा हैं? क्या पैसा मिलता है? कितना अनाज या जोतने के लिए जमीन मिलती है? क्या साल भर खाने को अनाज हो जाता है? इसके उत्तर में आदिवासियों का मत्र इतना ही जावाब मिलता है कि ''दो–एक महीने जंगली पेड़ों की जड़े खाकर गुजारा करना पड़ता है।''[3]

कितनी बड़ी विडंबना है कि आजादी के कई दशक बीत जाने के

बावजूद आज भी आदिवासियों पर सरकार का ध्यान नहीं गया। विकास का मॉडल लेकर कुछ व्यवस्था से जुड़े लोग जाते हैं और बस खानापूर्ति कर वापस आ जाते हैं। आदिवासी जितनी अपनी समस्याओं से नहीं टूटे उतनी उनके लिए चलाई जा रही विकास परियोजनाओं से टूटकर बिखर गए और आज वे बंधुवा मजदूर बनकर अपना जीवन यापन कर रहे हैं। लेखक पत्रकार के रूप में अपने मित्र सरयू के साथ इन्हीं बंधुवा मजदूरों के झोंपड़ेनुमा घरों में जाता है। यह पूरा चित्र आदिवासियों के हालत की पूरी कहानी बयाँ कर देता हैं, ''पूरे घर में जो कुछ भी दिखाई देता था। उस सब को जमा करके बाज़ार में बेचा जाये तो कोई दो रुपये का भी नहीं खरीदेगा। यह हमारी पक्की राय बनी थी। कुछ चट्टाइयाँ, चिथड़े हुए कपड़े, मिट्टी की बर्तन, मिट्टी का दिया मुश्किल से एक टीन का कनस्तर ही दिखाई पड़ते थे। दूसरी तरफ बड़े–बड़े फार्म थे जिनमें पचास हजार एकड़ जमीन थी। दो हजार एकड़ भगवान के नाम पर....हजार एकड़ कुत्ते के नाम...इसी तरह जमीन पर कब्जा किया गया।''[4]

उपन्यास में चित्रित पात्र विनय टंडन और सागर साहब आदिवासी समस्या और बंधुवा मजदूरी पर उनके बीच रहकर काफी काम कर चुके हैं। उपन्यास की कथा में उन्होंने बताया है कि मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में एक समय था जब आदिवासियों को कपड़े के दुकानदार चारों तरफ से नापकर कपड़ा देते थे। पुराने समय में ही नहीं आज भी गाँवों में पटवारियों से लोग भय खाते है। विनय टंडन बताते हैं कि ''पटवारी आदिवासी क्षेत्रों में जानेवाला सबसे बड़ा अधिकारी हुआ करता है। वह मौका–मुआइना करने इस तरह जाता था कि चरपाई पर बैठ जाता था और आदिवासी चरपाई अपने कंधों पर उठाए–उठाए उसे खेत–खेत ले जाकर मौका–मुआइन कराते थे। एक पटवारी रेडियो का शौकिन था और अपने साथ रेडियो भी ले जाता था। चारपाई पर वह खुद बैठता था। एक आदमी सिर पर रेडियो उठाता था। दूसरा बैटरी उठाता था। दो लोग बाँस में बंधा एरियल उठाते थे और इस तरह मौका–मुआई ना होता था।...रात में पूरा गाँव चंदा करके उसे अच्छा से अच्छा खाना खिलाता था। लेकिन पटवारी कोई बहाना बनाकर खाना नहीं खाता था .... उसके खाना न खाने पर पूरा गाँव डर जाया करता था और हाथ जोड़ता था कि पटवारी खाना खाले। पटवारी के खाना न खाने से उन्हें कितना नुकसान होगा इसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे।''[5]

आदिवासियों की समस्या केवल उनके क्षेत्र में पहुँचने वाले छोटे या बड़े अधिकारी ही नहीं होते बल्कि आदिवासी क्षेत्रों में सेठ और महजन भी ब्याज पर पैसा देकर इन आदिवासियों की रही सही कमर भी तोड़ देते हैं। ऐसा ही एक प्रसंग नागपुर के आदिवासियों से संबंधित है। इन आदिवासी क्षेत्रों में सूद पर पैसा देना संसार का सबसे ज्यादा मुनाफा देने वाला और सुरक्षित व्यावसाय है। यहाँ बताया गया है कि किस तरह से सेठ, महाजन पैसा देकर व्याज के रूप में इन आदिवासियों का शोषण कर रहे हैं और भोले–भाले आदिवासी इनकी चालाकियों को भी समझने लायक स्थिति में नहीं है–''एक आदिवासी ने किसी तरह सूद समेत अपना सारा कर्जा चुका दिया। महाजन ने आदिवासी से कहा कि आज तो तुम बड़े खुश होगे कि सारा कर्ज चुका दिया है। उसने कहा 'हाँ महाराज बहुत खुश हूँ।' साहूकार बोला–'तो मुँह मीठा कराओ'। वह बोला–'महाराज अब मेरे पास एक पैसा नहीं है।' साहूकार ने कहा–'अच्छा अगर तुम्हारे पास पैसा होता तो कितने पैसे से मुँह मीठा करा देते।' उसने कहा–'महाराज चार आने से करा देता।' साहुकार ने कहा–'ठीक है....चार आने तुम्हारे नाम खाते में चढ़ाये लेता हूँ'।''[6]

आदिवासियों को एक तरफ प्रशासन अपाहिज बना रहा है तो दूसरी तरफ उद्योग धंधे और बड़े–बड़े बाँध इन्हें रोगी बना रहा हैं। ये भोले–भाले आदिवासी सत्ता से टक्कर नहीं ले सकते। तमाम बड़े–बड़े अखबारों के मालिक इंडस्ट्रियलिस्ट हैं। इन्हीं लोगों के इलाके में इनकी पेपर मिले हैं। सरकारे इन्हे सस्ते मूल्यों पर बाँस उपलब्ध कराती है। बिजली इन कम्पनियों को मिले इसके लिए बड़े–बड़े बाँध बनाये जाते हैं। इन बड़े–बड़े उधोग मालिकों के लोग संसद में बैते हुए हैं। ऐसे हलात में आदिवासी ही पीसे जाते हैं। क्योंकि इन सारे विकासों लाभ भी इन आदिवासियों को नहीं मिल पाता है। रचनाकार लिखता है कि ''मैं मध्यप्रदेश के उन आदिवासी क्षेत्रों में गया जहाँ उधोग–धंधों के कारण आदिवासी उजड़ रहे थे। कारखानों का दूषित पानी नदी की मछलियाँ मार रहा था और गंदा पानी पीने से आदिवासियों में तरह–तरह की नयी बिमारियाँ फैल रही थी। आदिवासियों की हजारों एकड़ जमीन पर उधोग लग रहे थे, बाँध बन रहे थे और जाहिर था कि वहाँ पैदा होने वाली बिजली उनके लिए नहीं थी।''[7]

दरअसल एक साम्रज्यवाद चल पड़ा है। किसकी कीमत पर कौन आगे बढ़ रहा है, यह देखने की बात है। आदिवासियों के गाँव में जाने पर सारे विकास की दिखावी योजनाओं की हवा निकल जाती है। कभी–कभी हास्यास्पद लेकिन आँखे खोल देने वाली परिस्थितियों से भी दो–चार होना पड़ता है। रिपोर्टिंग करने आये लोग जब बैतूल के आदिवासी गाँव में जाते है तो वहाँ उन्हें देखकर भगदड़ मच जाती है। आदिवासी अपना काम–धाम छोड़कर भागने लगते हैं। औरतें बच्चों को बगल में दबाए भागने लगी थी। शहर से आए ये लोग कुछ समझ नहीं पाते। इस बात को वजह असग़र वजाहत एक स्थनीय कार्यकर्ता के माध्यम से खोलते हैं। यह जैसे–जैसे खुलता है सरकार के विकास की योजनाओं की धज्जियाँ उड़ने लगती है। धरती पर जब एक मनुष्यता ही खतरे में पड़ गई है। स्थानीय कार्यकर्ता आदिवासियों से कहता है, ''ये लोग बैंक वाले नहीं हैं। कार्यकर्ता बताता है–''पता चला कि कर्ज लेना भी विकास की एक पहचान माना जाता है। इसके अंतर्गत एक बैंक ने आदिवासियों को कर्ज देने के लिए 'टारगेट' निश्चित किया था। आदिवासियों को कर्ज की कोई जरूरत न थी और न वे बैंक से कर्ज लेना जानते थे और न इसके अभ्यस्त थे। इस करण बैंक का ब्रांच मैनजर परेशान हो गया कि 'टारगेट' पूरा नहीं हो सकेगा तो उसकी तरक्की में अड़चन आएगी। किसी ने सुझाया कि गाँव ही जाकर कर्ज दे दो। नहीं कगजी कार्यवाही कर लो। वह दो तीन बिचौलियों के साथ आया और गाँव में सबको कर्ज दे दिया। उनसे अंगूठा निशान लगवा लिये। इन लोगों को कुछ पता नहीं था कि यह कैसा पैसा है? इसका क्या करना है? यह किस तरह लौटाया जायेगा? लौटाया भी जाएगा या नहीं। बैंक मैनेजर कर्ज देकर चला गया। इन लोगों ने पैसे को शराब पी डाली। अनाप–शनाप खर्च कर दिया। साल भर बाद दूसरा बैंक मैनेजर कर्ज की किस्त वसूल करने आया। कर्ज की किस्त वसूल हो जाना भी विकास की पहचान और बैंक मैनेजर के 'प्रोमोशन' के लिए आवश्यक माना जाता है। इस बैंक मैनेजर ने जब देखा कि आदिवासियों के पास किस्त देने के पैसे नहीं है तो इससे उन्हें और कर्ज दे दिया और उसमें से किस्त के पैसे काट लिए। फिर तो यह सस्ता ही निकल आया। कई साल तक यही होता रहा। हर बैंक मैनेजर अपना ''कैरियर'' बनाता रहा है और आदिवासी भयानक कर्ज में डूबने लगे। होते–होते स्थिति थोड़ी स्पष्ट होने लगी। किसी ने इन्हे बताया कि तुम लोगों के तो जानवर, खेत, घर बिक सकते हैं। ये समझ में आते ही ये डर गये और अब बैंक वालों को आता देखकर जंगल में भाग जाते हैं।''[8]

उपरोक्त कथन विकास की सच्चाइयों का पोल खोलने वाला है। यह अब तक विकास का विनाश चल रहा है। आदिवासियों के जीवन से जुड़ी बहुत सी बातें आज भी सामने नहीं आ पा रही है। उसे रेखांकित करना आज के समय की आवश्यकता है।

मीडिया कर्मी होने के कारण साजिद के पास खबरों के पीछे सत्य को देखने की तीसरी आँख है और मुद्दों को उछालने और नजरअंदाज करने वाले राजनीतिक–व्यावसायिक हितों को पहचानने की तमीज थी। नौकरी के आरंभिक दिनों में एक बेहद समर्पित और उत्साही रिपोर्टर की भूमिका में आदिवासियों पर स्टोरी तैयार करते हुए वह कड़वी सच्चाई को उतनी ही कड़ी–कड़वी भाषा में भी लिख चुका भी है कि ''हमने इनके साथ वही किया जो अमेरिका में रेड इंडियंस के साथ किया गया था।''[9] लेकिन राजनीतिक संरक्षण पाकर राजनीति को ही संरक्षित करती पूँजीवादी और धार्मिक सांस्थाएँ क्या किसी भी तरह सच को बर्दाश्त करने को तैयार है? क्या स्वयं राजानिती इन विशिष्ट सहयोगियों को छोड़ आम आदमी के साथ मिल कर उसके हित की योजनाएँ बनाने–क्रियान्वित करने को तैयार है। क्यों विकास की परिकल्पना, स्वरूप, कार्यक्रम, उपलब्धियों से वे लोग बाहर कर दिए जाते हैं जिनके लिए विकास हो रहा है। क्यों लोगों में सामूहिकता की भावना को, एक जुट होकर काम करने की लाभकारी पद्धति को विकसित नहीं किया जाता। क्या इसलिए कि संगठित जन समूह सत्ता के लिए घातक चुनौती होता है?

अतः कहा जा सकता है कि असग़र वजाहत के सभी उपन्यासों में जीवन का यथार्थ रूप अपने अपने पूरे परिवेश के साथ उजाग़र हुआ है। उनके उपन्यास भारत की सामासिक संस्कृति के एक नये परिप्रेक्ष्य से परिचय तो करवाते ही है साथ ही वे इस बात की ओर भी इशरा करते है कि देश में आज जिस चीज़ की सबसे ज्यादा जरूरत है वह प्रेम और सहिष्णुता चाहे परिवार या समाज में इसका अभाव नैतिक और सामाजिक बुनियादों को खोखला कर रहा है। असग़र वजाहत के उपन्यास साहित्य में समकालीन समाज के कई पक्षों का यथार्थ चित्रण एक तरह से उसके समाजशास्त्रीय आयमों को ठोस रूप प्रदान करता है।

सन्दर्भ

1. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 88
2. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 85
3. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 86
4. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 86
5. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 87
6. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 88
7. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 95
8. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 135–136
9. बरखा रचाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 141